

---

## इकाई 2 ज्ञान की दिव्यता

---

### इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 ज्ञान की सामान्य भारतीय अवधारणा
- 2.3 ज्ञान की सामान्य पाश्चात्य भारतीय अवधारणा
- 2.4 श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार दिव्यज्ञान की अवधारणा
  - 2.4.1 दिव्यज्ञान की आवश्यकता
  - 2.4.2 दिव्य ज्ञान का स्वरूप
  - 2.4.3 दिव्य ज्ञान की परम्परा
  - 2.4.4 दिव्यज्ञान प्राप्ति के उपाय व अधिकारी
  - 2.4.5 दिव्यज्ञान का प्रमाणत्व
  - 2.4.6 दिव्यज्ञान का लक्ष्य
- 2.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची
- 2.6 बोध प्रश्न

---

### 2.0 उद्देश्य

---

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- ज्ञान की सामान्य भारतीय अवधारणा से अभिज्ञ हो जायेंगे।
- ज्ञान की सामान्य पाश्चात्य अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।
- श्रीमद्भगवद्गीता की दिव्य ज्ञान विषयक अवधारणा को जान सकेंगे।
- दिव्य ज्ञान की आवश्यकता को बता सकेंगे
- दिव्यज्ञान की परम्परा एवं स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- दिव्यज्ञान का अधिकारी कौन है तथा इसके साधन को जान पायेंगे।
- दिव्यज्ञान का प्रमाणत्व तथा इसके लक्ष्य का अवबोध कर पायेंगे।

---

### 2.1 प्रस्तावना

---

दिव्यज्ञान के विवेचन के पूर्व ज्ञान शब्द का सामान्य अर्थ, परिभाषात्मक अर्थ, भारतीय दर्शन परम्परा एवं पाश्चात्य दर्शन परम्परा में ज्ञान की सामान्य अवधारणा क्या है ? पर एक सामान्य परिचयात्मक विमर्श आवश्यक है। ज्ञान शब्द का अज्ञा अवबोधने धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है जिसका सामान्य अर्थ है – जानना, समझना,

परिचित होना या प्रवीणता । सामान्यतः इन्हीं सामान्य अर्थों में हम ज्ञान शब्द का प्रयोग करते हैं। सामान्य मनुष्य इसी रूप में यह दावा करता है कि उसे किसी न किसी प्रकार का ज्ञान है तथा किसी न किसी तथ्य का ज्ञान है। सामान्यतया ज्ञान एक सरल प्रत्यय है। जैसा कि सामान्यतया यह होता है सरल प्रत्ययों की परिभाषा करना कठिन है वैसे ही कठिनाई ज्ञान प्रत्यय की परिभाषा में भी होती है। ज्ञान की सामान्य परिभाषा करना कठिन है क्यों कि ज्ञान अपने आप में एक निरपेक्ष सत्य है किन्तु जब उसे परिभाषित किया जाता है तो वह सत्य की सापेक्ष परिधि में आ जाता है इसीलिए विभिन्न मतों एवं विचारधाराओं में इसकी परिभाषा को स्वमतानुसार भिन्न-भिन्न होती है। प्रस्तुत अध्याय में हम ज्ञान संप्रत्यय की भारतीय एवं पाश्चात्य परिपेक्ष्य में सामान्य तुलनात्मक विवेचन करेंगे तथा श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित दिव्यज्ञान का क्या स्वरूप है ? तथा दिव्यज्ञान एवं सामान्यज्ञान में क्या साम्य व क्या वैषम्य है? इस विषय पर विमर्श करेंगे। इसी के साथ ही दिव्यज्ञान का अधिकारी कौन है ? दिव्यज्ञान का परिणाम क्या है ? इसकी भी विवेचना की जायेगी ।

## 2.2 ज्ञान की सामान्य भारतीय अवधारणा

भारतीय चिन्तन में जिस प्रकार जीवन व जगत्के सभी पदार्थों की गहन मीमांसा की गयी है उसी प्रकार ज्ञान के स्वरूप का भी गहन विमर्श किया गया है। भारतीय मनीषा में ज्ञान शब्द व्यापक व सीमित दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। व्यापक अर्थ में ज्ञान शब्द का अर्थ है जहाँ भी चेतना का प्रकाश हो वह ज्ञान कहलाता है। सीमित अर्थ में ज्ञान सदैव एक निर्णय के रूप में होता है। ये दोनों भेद स्तर की श्रेणी पर है न कि कोटि की श्रेणी पर ये दोनों ज्ञान की ही अवस्थाएँ हैं। भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में इस विषय पर वैमत्य है कि ज्ञान किस कोटि की संज्ञा है। इस विषय पर मुख्यतः चार मत प्राप्त होते हैं। (1.) प्रथम मत यह है कि ज्ञान एक गुण है। इसके भी दो भेद हैं एक मत यह है कि ज्ञान एक आगुन्तक गुण है दूसरा मत है कि ज्ञान एक अनिवार्य गुण है। ज्ञान आत्मा का आगुन्तक गुण है, इस विचार को मानने वाले दो शाखाओं में विभक्त है। प्रथम शाखा चार्वाक दर्शन की है जो ज्ञान को भौतिक तत्त्व का आगुन्तक गुण स्वीकार करती है। दूसरी शाखा न्याय-वैशेषिक व प्रभाकर की है जो यह मानते हैं कि ज्ञान आत्मा का आगुन्तक गुण है भौतिक पदार्थों का नहीं। इसके विपरीत रामानुज व जैन परम्परा दूसरे मत को स्वीकार करती है। ये ज्ञान को आत्मा का अनिवार्य गुण मानते हैं। (2.) दूसरा मत भाट्टमीमांसकों का है जो यह मानते हैं कि ज्ञान आत्मा का कार्य है, गुण नहीं। (3.) तीसरा मत सांख्य व अद्वैत वेदान्त परम्परा का है जिसके अनुसार ज्ञान स्वयं में द्रव्य है, इसे किसी अन्य अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। (4.) चौथा मत शून्यवादियों का है जो ज्ञान को किसी कोटि में रखने को सहमत नहीं है।

## 2.3 ज्ञान की सामान्य पाश्चात्य अवधारणा

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान शब्द सामान्यतः समानार्थी शब्द समझ (Understanding), है। ज्ञान शब्द सामान्यतः जानना (To Know), परिचय (Acquaintance), सूचना देने व स्मृति के अर्थों में किया जाता है। ज्ञान शब्द को एक मानसिक अवस्था, मनोवृत्ति घटनात्मक व संपदनात्मक क्रिया के रूप में परिभाषित किया जाता है इस प्रकार स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। प्लेटों के समय से ही ज्ञान के स्वरूप एवं प्रकृति को लेकर वैमत्य है। सामान्य रूप से परम्परागत ढंग से ज्ञान को परिभाषित करते हैं कि "ज्ञान एक प्रमाणित सत्य विश्वास

है।" इस प्रकार किसी की प्रतिज्ञाप्ति (Proposition), को ज्ञान होने के लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं— (1) उसका सत्य होना, (2) उस पर विश्वास होना (3) उसका प्रमाणित होना। कतिपय दार्शनिकों ने इस परम्परागत परिभाषा की समीक्षा करते हुए कहा है कि ज्ञान के लिए सत्य, विश्वास व प्रमाण अनिवार्य शर्तें होते हुए भी पर्याप्त नहीं हैं। इसके लिए एक चौथी शर्त भी है इसका परामर्श दिया। यह चौथी शर्त क्या है इसको लेकर दार्शनिकों में वैमत्य है। मूर के अनुसार इन तीनों शर्तों के अतिरिक्त चौथी शर्त की आवश्यकता तो है किन्तु उसका कथन माना दुरुह है। कीथ लेहयर के अनुसार या चौथी शर्त है प्रमाण की अपराजेयता (Indefeasible), गोल्ड मैन एवं मार्शल स्वेन व स्मिथ इस विषय पर कारणात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं तथा वे मानते हैं तथा इसे अपराजेयता के साथ संयुक्त करते हैं। राबर्ट नोजिक ज्ञान के सोपाधिकसिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि विश्वास को ज्ञान में परिणत करने के लिए उसे सत्य के मार्ग का अनुगमन करना चाहिए। ए0जे0 एयर ज्ञान के निश्चितता सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि सत्य और विश्वास के साथ दृसाथ निश्चित होने का अधिकार रखना भी ज्ञान के लिए आवश्यक शर्त है तथा ज्ञान एक मनोवृत्ति है। एच0ए0 प्रिचर्ड ज्ञान को एक अभ्रान्त, विवेकपूर्ण निश्चितता की मानसिक अवस्था कहता है। जे0एल0 आस्टिन के अनुसार ज्ञान या जानना एक संपादनात्मक क्रिया है। उपर्युक्त सारे सिद्धांत व दार्शनिक मत ज्ञान को निर्दोष रूप से परिभाषित करने में अक्षम हैं।

## 2.4 श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार ज्ञान—दिव्यज्ञान की अवधारणा

पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान शब्द का प्रयोग सामान्यतः किसी वस्तु को जानने या समझने के अर्थ में किया गया है तथा भारतीय दर्शन में ज्ञान शब्द का प्रयोग स्वमतानुसार भिन्न-भिन्न अर्थों के करते हुए इसका गहन विश्लेषण किया गया है। भारतीय दर्शन में ज्ञान शब्द का अर्थ जहाँ प्रमाया ज्ञान के साधन रूप में ज्ञानमीमांसात्मक रूप से हुआ है वहीं इसको एक स्वयं प्रकाश तत्त्व चेतन तत्त्व के रूप में चेतना के सर्वोच्च स्तर जिसे अद्वैत वेदान्त की परम्परा में सामान्य रूपेण ब्रह्म अभिधान से अभिहित किया जाता है के अर्थ में भी तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से वर्णन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित दिव्य ज्ञान को अवधारणा के विवेचन में सामान्य भारतीय परम्परा के प्राप्त ज्ञान को अवधारणा का जो मूल स्वरूप है उसका प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। भारतीय सामान्य मनीषा में ज्ञान शब्द परम आत्मज्ञान अर्थ में प्रयोग में लाया जाता है। ज्ञान वह स्वयं प्रकाश ज्योति है जिससे हम अपनी वास्तविक सत्ता सत्य सत्ता में निरन्तर संवृद्धित होते हैं। यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य भौतिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक या जागतिक व्यावहारिक ज्ञान से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह ज्ञान हमारी संभूति के विकास में सहायक है न कि आन्तरिक सत्ता के विकास में। यह व्यावहारिक ज्ञान भौतिक ज्ञान में सहायक की भूमिका में रह सकता है। इस प्रकार यह व्यावहारिक ज्ञान उस वास्तविक इस आत्मज्ञान या परमज्ञान के सहायक के रूप में रहता है।

भारतीय मनीषा में वर्णित ज्ञान की अवधारणाओं का मूलउत्स श्रीमद्भगवद्गीता में वर्णित ज्ञान की अवधारणा है। श्रीमद्भगवद्गीता में जिस ज्ञान की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है

वह सामान्य भौतिक ज्ञान या ज्ञान की सामान्य अवधारणा में प्रतिपादित ज्ञान जो कि सामान्यतः मन की बौद्धिक क्रिया होता है से भिन्न अर्थों में है। यह विशुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान जो आधिभौतिक जगत से परे का ज्ञान है, इस लौकिक ज्ञान से भिन्न है। पूर्व विवेचन में स्पष्ट किया गया है कि यह लौकिक ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान के सहायक के रूप में होता है क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने-अपने रूप से एक विशिष्ट वस्तु व्यवस्था में उस उच्चतर अपरिवर्तनीय सत्य के प्रतिबिम्ब को व्यक्त करता है। इस लौकिक ज्ञान में विद्यमान आंशिक सत्य उस दिव्यज्ञान के सफल सत्य ज्ञान से भिन्न है पर इसकी उपयोगिता यह है कि यह इस लौकिक जगत की अपूर्णता का भान कराने में सक्षम है। यह हमारे मन को ऐसी स्थिति के लिए तैयार करता है जो स्वयं इस लौकिक ज्ञान व इसके विषय से परे व इसके ऊपर है जिसका दिव्यज्ञान को प्राप्त करना इन भौतिक इन्द्रियों के वश या इनकी क्षमता से परे है। इस दिव्यज्ञान को जानने के लिए हमें आत्मा के रूपान्तरण की आध्यात्मिक दृष्टि के विकास की अर्थात् दिव्य दृष्टि के द्वारा जाना जा सकते हैं। यह दिव्य दृष्टि चेतन सत्ता का उच्चतर स्तर पर आरोहण है। इस स्तर को प्राप्त कराने में वह दिव्य अपने अवतरण के द्वारा सहायक होता है वह इस संभव बनाता है। ऐसी स्थिति में वह दिव्य साधक अपनी मानवीय चेतना की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर अपने अस्तित्व के सार्वभौमिक सिद्धान्त अर्थात् उस परमसत्ता के चिन्तन में अपने आपको आत्म विस्मृत कर देता है। ज्ञान की निष्काम लालसा उस सत्य का ज्ञान प्राप्त करने लिए दिव्य साधक द्वारा जिज्ञासावशात् उस परमसत्ता में अपना विलोपन कर देता है।

### 2.4.1 दिव्यज्ञान की आवश्यकता

इस लौकिक जगत की की एक परिवर्तनों की अस्थायी परम्परा के रूप में ऐतिहासिक विद्यमानता है। इस जगत के सतत् अस्तित्ववान होने का हेतु कर्म की सरणि है। ये मानवीय कर्म इच्छा राग या का कारण होता है। इस इच्छा का कारण अविद्या या वस्तुओं की प्रकृति के विषय में अज्ञान है। इस अज्ञान की विद्यमानता की स्थिति में इस नामरूपतामक जगत के दुश्चक्र से बच पाना सम्भव नहीं है क्योंकि वह परमार्थ कूटस्थ परमसत्ता व क्षणिकसत्ता वाली वस्तुओं के माध्यम से अप्राप्य है। इस अविद्या, कामना व कर्म की संगति से मुक्ति, ज्ञान से है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अविद्या कामना व कर्म की सरणि से मुक्ति का हेतु जो ज्ञान से कहा जा रहा है, उसमें कार्य कारण भाव नहीं होता है अपितु यह तो अपने वास्तविक स्वरूप की अपरोक्षानुभूति है। हमारे मन या अन्तःकरण में विद्यमान उस विशुद्धतत्त्व की जो परमसत्ता से निःसृत है या परमात्मा स्वरूप ही है कि अनुभूति या अपने मौलिक स्वरूप में प्रकटन है। यह दिव्यज्ञान प्रकटन का अर्थ है उसकी प्राप्ति के मार्ग में विद्यमान बाधाओं का हटना। यह ऐसी स्थिति है जिसमें एक ही क्षण में असीम जीवन की पूर्ण समग्र रूपेण प्राप्ति होती है।

### 2.4.2 दिव्यज्ञान का स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि दिव्यज्ञान क्या है ? अर्थात् दिव्यज्ञान का स्वरूप क्या है ? पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता जिस दिव्यज्ञान की बात कहती है वह मन की बौद्धिक क्रिया नहीं है प्रत्युत यह दिव्यज्ञान सत्य स्वरूप दिव्य प्रकाश के उद्भासन के द्वारा सत्ता की उच्चतम अवस्था में संवर्धन है। श्रीमद्भगवद्गीता में दिव्यज्ञान शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है दिव्यज्ञान का अभिप्राय है वह ज्ञान जिस पर यह निष्कामता, यह समता व यह यज्ञ शक्ति प्रतिष्ठित है। यह सत्य है तथा

यह हमारे अज्ञान अन्धकार में अन्तर्गूढ़ है। यह हमारे अज्ञान अंधकार के अन्तः में छिपा हुआ है। यह अज्ञान उस नित्य प्रकाश स्वरूप कूटस्थ, अपरिणामी, प्रपंचोपशम, शान्त, शिव व अद्वैतस्वरूप आत्मज्ञान को हमसे छिपाये रखता है। इसकी अनुभूति होना अर्थात् साक्षात्कार होना साक्षात्कार के रूप में ज्ञान की एक वृत्ति है और इस तरह अन्य किसी भी प्रकार के ज्ञान को भाँति ही एक कार्यप्रभाव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान एक प्रत्यक्ष अनुभव है जो ज्ञान प्राप्त के पथ की बाधाओं को दूर होते ही स्वयं उद्घाटित हो जाता है। यह दिव्यज्ञान स्वयं प्रकाश, नित्य एवं अनन्त वस्तु है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान शब्द वस्तुतः दिव्यज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह एक ऐसी ज्योति है जिसके द्वारा हम अपनी वास्तविक सत्ता अर्थात् अपनी सत्य सत्ता में संवर्धित होते हैं। इस दिव्यज्ञान का सत्य तितिक्षा, दार्शनिक, उदासीनता एवं नति जो कि तीन प्रकार की समता का मूल है को एक साथ समेकित करता हुआ उसे गहन, अपूर्व एवं औदार्यपूर्ण भाव के साथ सार्थकता को प्रदान करता है। इस दिव्यज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । गीता-4/38

अर्थात् जैसे-जैसे हमारे कर्म अधिकाधिक निष्काम सम बुद्धियुक्त एवं यज्ञभावापन्न होते जाते हैं अर्थात् पवित्रता को प्राप्त होते जाते हैं वे ज्ञान स्वरूप होते जाते हैं। यह ज्ञान एवं योग अपने सारतत्त्व के परस्पर आदान प्रदान के द्वारा एक दूसरे को सर्वर्द्धित करते हैं।

### 2.4.3 दिव्यज्ञान की परम्परा—

यह दिव्य ज्ञान जिसका विषय परब्रह्म, भगवान अनन्त एवं निरपेक्ष सत्ता है की एक अनवच्छिन्न सनातन परम्परा रही है। यह दिव्यज्ञान का प्रकाशन या दिव्य आत्मसंचारण जिसे हम दिव्य प्रकाशना कह सकते हैं वह कोई अतीत घटना नहीं है अपितु एक पुरातन सनातन परम्परा है। योगेश्वर श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि

एमं विवस्वते योगं प्रोक्तावानहमव्ययम् ।  
विवस्वान्मनवे प्राह मुनिरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।  
स कालेनेह महता योग नष्टः परंतप ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।  
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ गीता 4/1-3

अर्थात् मैंने उस अविनाशी योग की सूर्य से कहा था सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा, मनु ने अपने पुत्र राजा इच्छ्वाकु से कहा। हे परंतप अर्जुन इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना वह योग बहुत काल इस पृथ्वीलोक में लुप्तप्राय हो गया। तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है इसलिए वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य विषय है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यहाँ योग शब्द यही ज्ञानयोग्य, ज्ञाननिष्ठा रूप योग अभिप्रेत है।

अब प्रश्न यह है कि इस दिव्यज्ञान को प्राप्त करने का उपाय क्या है ? तथा इसका अधिकारी कौन है ? इस दिव्यज्ञान को प्राप्त करने के लिए साधक मनुष्य में जिज्ञासा अथवा ज्ञान को निष्काम, लालसा होनी चाहिए जिससे वह अस्तित्व के उच्चतर स्तरों पर आरोहण हेतु सक्षम हो कर सत्य साधना में रत होता है। इस सत्य साधना में रत होने के लिए यह आवश्यक है कि हम निरन्तर कर्म के माध्यम से संयम को प्राप्त करें तथा आत्म सजग रहते हुए शरीर, प्राण एवं मन का समर्पण करते हुए बहुपक्षीय संभावनाओं में एक पूर्ण समस्वरता, सम्पूर्ण सन्तुलन की स्थिति प्राप्त संकल्प की शुद्धता प्राप्त स्वस्वामित्व प्राप्त कर शान्ति की उस अवस्था को प्राप्त करें जिसमें आत्मा का उस सनातन के साथ होने की अनुभूति होने से एक अन्तर्दृष्टि उत्पन्न होने लगे।

सामान्य बौद्धिक ज्ञान के संदर्भ में हम देखते हैं कि मनुष्य अपनी बुद्धि इन्द्रियों व तर्कशक्तियों का माध्यम से बौद्धिक प्रतिज्ञाप्तियों एवं आनुभविक प्रतिज्ञाप्तियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करता रहता है परन्तु दिव्यज्ञान के प्राप्त करने का उपाय इस प्रणाली से भिन्न है। परम्परा प्राप्त इस दिव्यज्ञान को प्राप्ति हेतु तत्त्वदर्शी गुरु से दीक्षा लेने पड़ती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। 4 / 34 गीता

अर्थात् उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ। भली भाँति दण्डवत प्रणाम करने से उनकी सेवा करने से सरलता पूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्मतत्त्व को भलीभाँति जानने वाले ज्ञानी तुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे। जिन लोगों ने तत्त्वदर्शन कर लिया है उनका सामान्यतया अन्यों के प्रति यह दायित्व है कि वे उन्हे मार्ग दिखलायें।

स्वयं ज्योति स्वअन्तस्थ स्ववानुभूत व स्वयं अपना उद्घाटन करने वाले ज्ञान प्राप्ति हेतु उस ज्ञान के अधिकारी के लिए संयतेन्द्रिय एवं श्रद्धावान होना अपरिहार्य योग्यताधायक धर्म है। इस जिज्ञासु अधिकारी के लिए यह आवश्यक है कि हम संयतेन्द्रिय होकर अपनी इन्द्रियों एवं मन को शुद्धि के उस स्तर पर ले जाय जहाँ सत्तगुण के उद्रेक के कारण हमारे मन एवं बुद्धि एक निर्मल दर्पण बन जाय। हमें उस परमतत्त्व के सत्य में जो समग्र ज्ञान एवं सत्ता का मूल है में अपनी समग्र सत्ता को प्रतिष्ठित करना होगा ताकि वह अपनी प्रकाशस्वरूप आत्मसत्ताको हममें उद्घाटित कर सके। योगेश्वर श्रीकृष्ण दिव्यज्ञान के अधिकारी का लक्षण देते हुए स्वयं कहते हैं किं

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। 4 / 39 गीता

अर्थात् संयतेन्द्रिय व जो इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए तत्पर है ऐसा श्रद्धावान मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है। उस दिव्यज्ञान को प्राप्त होकर वह अविलम्ब उस परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ प्रथम पंक्ति में दिव्यज्ञान के अधिकारी का लक्षण एवं उत्तरार्ध में उसका फल विवेचन किया गया है।

पूर्व विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि संयतेन्द्रिय, मत्पर व श्रद्धावान दिव्यज्ञान को प्राप्त करते हैं। इस दिव्यज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमारे अन्त में ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए जिसे किसी भी प्रकार के बौद्धिक संशय के द्वारा डिगाया नहीं जा सकता है। यदि श्रद्धा स्थिर है तो यह हमें ज्ञान प्राप्ति तक पहुँचा देती है। ऐसी अवस्था में

प्राप्त ज्ञान सभी प्रकार के सन्देहों से रहित होता है। जिस अज्ञानी व्यक्ति में श्रद्धा या विश्वास नहीं होता वह इस संसार में या परलोक में कोई भी एक निश्चित स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है। जो मनुष्य अज्ञानी है जिसमें श्रद्धा नहीं है वह नाश को प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ 4/40 गीता

अज्ञानी, श्रद्धारहित, संशयालु व्यक्ति नष्ट होकर रहता है। संशयालु स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए न तो यह संसार है न परलोक है और न ही उसे सुख प्राप्त हो सकता है।

### 2.4.5 दिव्यज्ञान का प्रमाणत्व

यह जो दिव्यज्ञान है वह स्वयं ज्योति स्वयं प्रकाश है। इसे सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसको हमें अपने जीवन में चरितार्थ करना होता है। यह सर्वोच्च ज्ञान जो अपनी चेतन सत्ताके उच्चतम स्तर पर प्राप्त होता है, आत्मा की अधिक गहराई, विशालता में अनुभूत होता है, यह महत्तर सद् वस्तु है इसे हमें अपने आन्तरिक जीवन में उतारना होता है अब प्रश्न यह है कि यदि यह ज्ञान स्वयंसिद्ध है व यह जीवात्मा का अपना स्वरूप है तो यह अप्रकट, क्यों होता है ? इसके विषय में सन्देह क्यों होता है ? इस सन्देह या इसके अप्रकटन होने के कारण है अज्ञान। अज्ञान से इन्द्रियविमोहित और विमूढ मन व हृदय से उत्पन्न होने वाले संशय व मोह हमें इस सत्य को स्वीकार करने व इसका अनुगमन करने में बाधक होते हैं। इनका विषय बाह्य सत्य है जिसके कारण उस स्वयं सिद्ध परमार्थतत्त्व के विषय में संशय होता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानसिनात्मनः ।

छित्त्वेन संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ 4/42 गीता

अर्थात् हे भारत ज्ञान की तलवार से अपने हृदय में स्थित सन्देह को, जो अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ है, छिन्न-भिन्न करके योग में जुट जा और उठ खड़ा हो।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि हमारी चेतना शरीर के साथ जब संयुक्त रहती है तथा इन्द्रियों बहिर्मुखी रहती है जिससे बहिर्मुखी क्रियाओं में यह इन्द्रियाह्वय वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए धारणाओं का उपयोग करती है। इस समय इनकी स्थिति निम्न एवं बाह्य सत्य में होती है। अतः चेतना के सर्वोच्च बिन्दु पर स्थित उस सद् वस्तु के विषय में संशय होता है। उस परमसत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए या अस्तित्वत्मक अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें वस्तुओं की इस बाह्य और आन्तरिक विविधता से मुक्त होना होगा जो उस दिव्यज्ञान के प्रत्यक्ष या अन्तःस्फुरणात्मक ज्ञान में बाधक है। उस दिव्यज्ञान के अनुभव के लिए परमसत्ताके एकत्व में निवास कर सतत् योगस्थ होकर समस्वरतायुक्त हो प्रतीयमान अहंकार से बचाव करते हुए विशुद्ध कर्तात्मकता के भाव से गहन तर्कणा के द्वारा संशय को ज्ञान की तलवार से काट डालना चाहिए तथा इस परमब्रह्म के साथ वास्तविकता से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

### 2.4.6 दिव्यज्ञान का लक्ष्य

दिव्य ज्ञान प्राप्त होने की स्थिति में उस ब्राह्मी स्थिति में प्राप्त पुरुष की दृष्टि पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को देखने की एक समदर्शी स्थायी दृष्टि है जो उसे ब्राह्मी स्थिति में प्राप्त होती है।

अर्थात् स्थिर बुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्म में स्थित हो जाता है। जिससे उस समदर्शी का पुनः मानसिक प्रकृति के मोहजाल में पुनरागमन नहीं होता है। दिव्यज्ञान ऐसी स्थिति है जिससे तू सर्वभूतों को अशेषरूप से आत्मा के अन्दर और फिर मेरे अन्दर देखेगा।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।  
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ 4/35 गीता

अर्थात् जब तू इस ज्ञान (दिव्यज्ञान) को प्राप्त कर लेगा तो पुनः इस भ्रान्ति में नहीं पड़ेगा क्योंकि हे अर्जुन इस दिव्यज्ञान के द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेष भाव से पहले अपने में और तत्पश्चात् मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा। ऐसा योगयुक्तात्मा अर्थात् दिव्यज्ञान प्राप्त वह समदर्शी सब भूतों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सब भूतों को देखता है। जो समदर्शी सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मरूप में मेरा दर्शन करता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ परमतत्त्वके अन्तर्गत देखता है उसके लिए मैं कभी अदृश्य या परोक्ष या दूर नहीं होता हूँ तथा वह भी कभी मुझसे अदृश्य या परोक्ष नहीं होता है। समत्व को प्राप्त वह योगी सभी भूतों में स्थित मुझको भजता है वह दिव्यज्ञानी योगी सब प्रकार से बरतता हुआ, सभी प्रकार से क्रियाशील रहता हुआ भी मेरे ही अन्दर रहता है और कर्म करता है जो कोई सुख व दुःख में सर्वत्र सबको अपने जैसा ही समझकर समान दृष्टि से देखता है उसका हेतु यह दिव्यज्ञान ही है उसी को मैं परमयोगी मानता हूँ।

सर्व भूतस्थभात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।  
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शः ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।  
तस्याहं न प्रणश्यामि स च न मे प्रणश्यति ॥

सर्व भूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।  
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।  
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ 6/29-32 गीता

यहाँ यह ध्यातव्य है कि श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपदित इस दिव्यज्ञान की अवधारणा की विलक्षणता या विशेषता यह है कि गीता ने इस दिव्यज्ञान की अवधारणा को व्यावहारिक शास्त्र के रूप में परिणत कर दिया। यहाँ पर श्रीमद्भगवद्गीता में यह प्रतिपादन हुआ है कि मुक्त पुरुष ब्रह्म की शान्त आधारशिला है तथा मुक्त प्रकृति में उस परतात्मा का विशाल, स्वतन्त्र सम जगतव्यापी कर्म उस शक्ति का संचारित करता है जो इस शान्ति से उद्भूत है। इन दोनों का समन्वय दिव्यकर्म एवं दिव्य ज्ञान का समन्वय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिव्यज्ञान से पवित्र कुछ भी नहीं है योग के द्वारा शुद्ध अन्तकरण हुआ मनुष्य अपने आप इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते ।  
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनिविन्दति ॥ 4/38 गीता

इस ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति के कर्म उसको नहीं बाँधते हैं। उसके सारे कर्म होने के साथ ही सर्वथालय को प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि स्वयं भगवान ही उस कर्म को अपनी प्रकृति के द्वारा करते हैं और ये कर्म ब्रह्मसत्ता के स्वभाव व स्वरूप की एक शक्ति बन जाता है। ऐसा कर्म ज्ञान में अपनी पूर्णता में परिणमित होता है— सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। ( 4/33 गीता) ऐसे कर्म किसी प्रकार का कोई संस्कार उत्पन्न नहीं करते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ 4/37 गीता

ज्ञान से छिन्न संशय होने से अर्थात् आत्मा तथा परमसत्ता के एकत्व रूप दिव्यज्ञान से जिसका सभी प्रकार का संशय सम्यक रूपेण छिन्न संशय हो गया एवं इस प्रकार दिव्यज्ञान रूप योग के द्वारा जिनका पुण्य पापरूप सभी कर्म संन्यस्त हुआ है ऐसी दिव्यज्ञान में निष्ठा होने से उसका कोई कार्य नहीं रहता है। उस दिव्यज्ञान के कारण आत्मवान होने के कारण प्रमादरहित होकर किये गये इष्ट, अनिष्ट व मिश्र कर्म कोई कर्म संसार में बद्ध नहीं कर सकता क्योंकि उनके सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं। परोक्षज्ञान के साथ दिव्य कर्म का अनुष्ठान करने से चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान होने से परम शान्तिरूप मोक्ष प्राप्त होता है। इस दिव्य ज्ञान के निरन्तर अभ्यास से वह तत्त्वज्ञान में स्थित हो जाता है। दिव्यज्ञान निष्ठा होने से परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह ज्ञाननिष्ठा होना ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का अन्तिम परिणाम है। इस दिव्यज्ञान के साथ कर्मयोग के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है वह ब्रह्म यज्ञ में ही परिणत हो जाता है क्योंकि इस दिव्यज्ञान का विषय है परब्रह्म अनन्त व निरपेक्षस्वरूप। परमार्थ, परम सद्द्वस्तु परात्पर इन सभी पक्षों से युक्त जो एकमात्र सत् है वही इस दिव्यज्ञान का लक्ष्य है। यद्यपि यह दिव्यज्ञान योग बुद्धि के द्वारा साधित है तथापि हमारा सकल बौद्धिक विमर्श व अन्वेषण इसका आरम्भ मात्र है। इसका उपयोग एवं अनुगमन तभी तक करना है जब तक कि उस अनन्त एक मात्र मत चेतना का स्तर उद्घाटित न हो जाय। चेतना का यह स्तर उद्घाटित होने पर वह योगी एकत्व का दर्शन करता है तथा यह अनुभव करता है कि यह सब कुछ भगवान की एक समष्टि है, ऐसा मानता हुआ वह दिव्यज्ञान एवं महत्तर चेतना के साथ सभी कर्म करता है।

स बुद्धिमान्मनुस्येषु स युक्तः कृतस्न कर्मकृत। 4/18 गीता

मुक्त पुरुष जिसे दिव्यज्ञान प्राप्त हो चुका है उसके लिए इस जगत में कर्म यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि वह सामान्य लौकिक व्यक्ति से किसी भी प्रकार से कम नहीं करता है। दिव्यज्ञान प्राप्त मुक्त पुरुष का कर्मसच्चे ज्ञान एवं महत्तर शक्ति के साथ होता है अतः वह बन्धनकारी नहीं है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दिव्यज्ञान सामान्य ज्ञान की तरह मन की बौद्धिक क्रिया नहीं है अपितु यह विशुद्ध आध्यात्मिक पूर्ण यौगिक ज्ञान है। यह परम निरपेक्ष ब्रह्म से सचेतन होना और साथ ही साथ वैयक्तिक तथा वैश्विक सत्ता पर पड़ने वाले से सचेतन होने का भान होना है यह परम एवं दिव्यज्ञान है। आध्यात्मिक ज्ञान का विषय है परमब्रह्म, परमेश्वर की अनन्त एवं निरपेक्ष सत्ता, इसका लक्ष्य है भगवान परमसद्द्वस्तु सर्व परात्पर सत्ता के साथ समग्रता से एकत्व को प्राप्त करना है। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हमारे सकल बौद्धिक विमर्श, समस्त एकाग्रता मनोवैज्ञानिक प्रयास, प्रेम के माध्यम से हृदय की गहन गवेषणा, शक्ति एवं कर्म कलाप द्वारा संकल्प का प्रसन्नता द्वारा अन्तरात्मा का सकल अन्वेषण आरम्भमाणि होते हैं तथा उस दिव्यज्ञान की उद्घाटना में पर्यवसित व परिणमित हो जाते हैं।

---

## 2.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

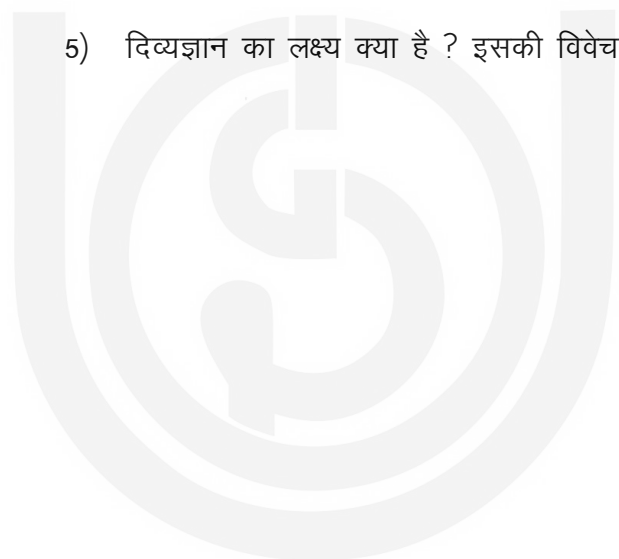
---

1. श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्कभाष्य हिन्दी अनुवाद सहित गीता प्रेस गोरखपुर।
  2. भारतीय दर्शन डॉ० राधाकृष्णन।
  3. भारतीय दर्शन प्रो० संगमलाल पाण्डेय।
  4. श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य गीता प्रेस गोरखपुर।
- 

## 2.6 बोध प्रश्न

---

- 1) ज्ञान की सामान्य अवधारणा क्या है ?
- 2) ज्ञान को अवधारणा के विषय में भारतीय एवं पाश्चात्य मत क्या है ?
- 3) श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार दिव्यज्ञान का स्वरूप क्या है ?
- 4) दिव्यज्ञान के अधिकारी का लक्षण तथा दिव्यज्ञान प्राप्ति के उपाय क्या है ?
- 5) दिव्यज्ञान का लक्ष्य क्या है ? इसकी विवेचना कीजिए।



ignou  
THE PEOPLE'S  
UNIVERSITY